जैन धर्म का त्रिविध साधना मार्ग

जैन दर्शन मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना-मार्ग प्रस्तुत करता है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में ही कहा गया है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र मोक्ष का मार्ग है।[१] उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र और सम्यग्तप ऐसे चतुर्विध मोक्ष-मार्ग का भी विधान है।[२] परवती जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र में किया है और इसलिए परवर्ती साहित्य में इसी त्रिविध साधना मार्ग का विधान मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार एवं नियमसार में, आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में त्रिविध साधना-पथ का विधान किया है।

त्रिविध साधना-मार्ग ही क्यों ?

यह प्रश्न उठ सकता है कि त्रिविध साधना-मार्ग का ही विधान क्यों किया गया है? वस्तुत: त्रिविध साधना-मार्ग के विधान में पूर्ववर्ती ऋषियों एवं आचार्यों की गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं— ज्ञान, भाव, और संकल्प। जीवन का साध्य चेतना के इन तीनों पक्षों के परिष्कार में माना गया है। अत: यह आवश्यक ही था कि इन तीनों पक्षों के परिष्कार के लिए त्रिविध साधना-पथ का विधान किया जाये। चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यक् बनाने के लिए एवं उसके सही विकास के लिए सम्यग्दर्शन या श्रद्धा (भाव) की साधना का विधान किया गया। इसी प्रकार ज्ञानात्मक पक्ष के लिए ज्ञान का और संकल्पात्मक पक्ष के लिए सम्यग्चारित्र का विधान किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिविध साधना-पथ के विधान के पीछे जैनों की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में और गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग के रूप में भी त्रिविध साधना-मार्ग के उल्लेख हैं।

पाश्चात्य चिन्तन में त्रिविध साधना-पथ

पाश्चात्य परम्परा[३] में तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं—

(१) स्वयं को जानो
(२) स्वयं को स्वीकार करो
(३) स्वयं ही बन जाओ

पाश्चात्य चिन्तन के ये तीन नैतिक आदेश, जैन परम्परा के सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के त्रिविध साधना-मार्ग के समकक्ष ही हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्म-स्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्म-निर्माण में चारित्र का तत्त्व स्वीकृत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग के विधान में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परायें ही नहीं, पाश्चात्य विचारक भी एकमत हैं। तुलनात्मक रूप में उन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है —

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	गीता	उपनिषद्	पाश्चात्य दर्शन
सम्यग्ज्ञान	श्रद्धा, चित्त, समाधि	ज्ञान, परिप्रश्न	मनन	Know thyself
सम्यग्दर्शन	प्रज्ञा	श्रद्धा, प्रणिपात	श्रवण	Accept thyself
सम्यग्चारित्र	शील, वीर्य	कर्म, सेवा	निदिध्यासन	Be thyself

साधना-त्रय का परस्पर सम्बन्ध

जैन आचार्यों ने नैतिक साधना के लिए इन तीनों साधना मार्गों को एक साथ स्वीकार किया है। उनके अनुसार नैतिक साधना की पूर्णता त्रिविध साधना-पथ के समग्र परिपालन में ही सम्भव है। जैन विचारक तीनों के समवेत से ही मुक्ति मानते हैं। उनके अनुसार न अकेला ज्ञान, न अकेला कर्म और न अकेली भक्ति मुक्ति देने में समर्थ है, जबकि कुछ भारतीय विचारकों ने इनमें से किसी एक को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शङ्कर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं, लेकिन जैन दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता में नहीं पड़ते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना में ही मोक्ष सिद्धि सम्भव है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष या समत्वरूपी साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं है उसका आचरण सम्यक् नहीं होता। सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं हुआ जा सकता है और जो आसक्ति से मुक्त नहीं उसका निर्वाण या मोक्ष नहीं होता।[४] इस प्रकार शास्त्रकार यह स्पष्ट कर देता है कि निर्वाण या आत्मपूर्णता की प्राप्ति के लिए इन तीनों की समवेत रूप में आवश्यकता है। वस्तुत: साध्य के रूप में जिस पूर्णता को स्वीकार नहीं किया गया है वह चेतना के किसी एक पक्ष की पूर्णता नहीं वरन् तीनों पक्षों की पूर्णता है और इसके लिए साधना के तीनों पक्ष आवश्यक हैं।

यद्यपि धर्म साधना के लिए सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र या शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा श्रद्धा, ज्ञान और कर्म तीनों आवश्यक हैं, लेकिन साधना की दृष्टि से इनमें एक पूर्वापरता का क्रम भी है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध

ज्ञान और दर्शन की पूर्वापरता को लेकर ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से जैन विचारणा में काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को

प्राथमिक मानते हैं तो कुछ ज्ञान को, कुछ ने दोनों का यौगपत्य (समानान्तरता) स्वीकार किया है। यद्यपि आचारमीमांसा की दृष्टि से दर्शन की प्राथमिकता ही प्रबल रही है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता।[५] इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी गयी है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने भी अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चारित्र के पहले स्थान दिया है।[६] आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड में कहते हैं कि धर्म (साधना-मार्ग) दर्शन-प्रधान है।[७]

लेकिन दूसरी ओर कुछ सन्दर्भ ऐसे भी हैं जिनमें ज्ञान को प्रथम माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में, उसी अध्याय में मोक्ष-मार्ग की विवेचना में जो क्रम है उसमें ज्ञान का स्थान प्रथम है।[८] वस्तुत: साधनात्मक जीवन की दृष्टि से भी ज्ञान और दर्शन में किसे प्राथमिक माना जाय, यह निर्णय करना सहज नहीं है। इस विवाद के मूल में यह तथ्य है कि श्रद्धावादी दृष्टिकोण सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान देता है, जबकि ज्ञानवादी दृष्टिकोण श्रद्धा के सम्यक् होने के लिए ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करता है। वस्तुत: इस विवाद में कोई ऐकान्तिक निर्णय लेना अनुचित ही होगा। यहाँ समन्वयवादी दृष्टिकोण ही संगत होगा। नवतत्त्वप्रकरण में ऐसा ही समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है, जहाँ दोनों को एक-दूसरे का पूर्वापर बताया है। कहा है कि जो जीवादि नव पदार्थों को यथार्थ रूप से जानता है उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार ज्ञान को दर्शन के पूर्व बताया गया है, लेकिन अगली पंक्ति में ही ज्ञानाभाव में केवल श्रद्धा से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति मान ली गई है और कहा गया है कि जो वस्तुतत्त्व को स्वत: नहीं जानता हुआ भी उसके प्रति भाव से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व हो जाता है।[९]

हम अपने दृष्टिकोण से इनमें से किसे प्रथम स्थान दें, इसका निर्णय करने के पूर्व दर्शन के अर्थ का निश्चय कर लेना जरुरी है। दर्शन शब्द के तीन अर्थ हैं— (१) यथार्थ दृष्टिकोण, (२) श्रद्धा और (३) अनुभूति। इसमें अनुभूतिपरक अर्थ का सम्बन्ध तो ज्ञानमीमांसा है और उस सन्दर्भ में वह ज्ञान का पूर्ववर्ती है। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं तो साधना-मार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए, क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, अयथार्थ है तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव में यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् प्रतीत भी हों, तो भी वे सम्यक् नहीं कहे जा सकते। वह तो सांयोगिक प्रसङ्ग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रान्त भी हो सकता है। जिसकी दृष्टि दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और क्या उसका आचरण करेगा? दूसरी ओर यदि हम सम्यग्दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात् ही होगा। क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है, उसमें कहा गया है कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जानें और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करें।[१०] व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमें जो स्थायित्व होता है वह ज्ञानाभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा से नहीं हो सकता। ज्ञानाभाव में जो श्रद्धा होती है, उसमें संशय होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं वरन् अंन्धश्रद्धा ही हो सकती है। जिन प्रणीत तत्त्वों में भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवं तार्किक परीक्षण के पश्चात् ही हो सकती है। यद्यपि साधना के लिए, आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है, लेकिन वह ज्ञानप्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करें, तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करें।[११] इस प्रकार मेरी मान्यता के अनुसार यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ में सम्यग्दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए, जबकि श्रद्धापरक अर्थ में उसे ज्ञान के पश्चात् स्थान देना चाहिए।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध

चारित्र और ज्ञान दर्शन के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर जैन विचारणा में कोई विवाद नहीं है। चारित्र की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन को प्राथमिकता प्रदान की गई है। चारित्र साधना-मार्ग में गति है, ज्ञान साधना पक्ष का बोध है और दर्शन यह विश्वास जाग्रत करता है कि वह पथ उसे अपने लक्ष्य की ओर ले जाने वाला है। सामान्य पथिक भी यदि पथ के ज्ञान एवं इस दृढ़ विश्वास के अभाव में कि वह पथ उसके वांछित लक्ष्य को ले जाता है, अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता तो फिर आध्यात्मिक साधना-मार्ग का पथिक बिना ज्ञान और आस्था (श्रद्धा) के कैसे आगे बढ़ सकता है? उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान से (यथार्थ साधना मार्ग को) जानें, दर्शन के द्वारा उस पर विश्वास करें और चारित्र से उस साधना-मार्ग पर आचरण करता हुआ तप से अपनी आत्मा का परिशोधन करें।[१२]

यद्यपि लक्ष्य को पाने के लिए चारित्र रूप प्रयास आवश्यक है, लेकिन प्रयास को लक्ष्योन्मुख और सम्यक् होना चाहिए। मात्र अन्धे प्रयासों से लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है तो ज्ञान यथार्थ नहीं होगा और ज्ञान के यथार्थ नहीं होने पर चारित्र या आचरण भी यथार्थ नहीं होगा। इसलिए जैन आगमों में चारित्र से दर्शन (श्रद्धा) की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्चारित्र नहीं होता।[१३]

भक्तपरिज्ञा में कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट नहीं है, क्योंकि जो दर्शन से युक्त है वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता। कदाचित् चारित्र से रहित सिद्ध भी हो जाये, लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता।[१४]

वस्तुत: दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण का सही दिशा-निर्देश करता है। आचार्य भद्रबाहु आचाराङ्गनिर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।[१५] सन्त आनन्दघन दर्शन की महत्ता को सिद्ध करते हुए अनन्त जिन के स्तवन में कहते हैं —

शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,
छार (राख) पर लीपणु तेह जाणो रे।

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की पूर्वापरता

जैन विचारकों ने चारित्र को ज्ञान के बाद ही रखा है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि जो जीव और जीव के स्वरूप को नहीं जानता, ऐसा जीव और अजीव के विषय में अज्ञानी साधक क्या धर्म (संयम) का आचरण करेगा?[१६] उत्तराध्ययनसूत्र में भी यही कहा है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता।[१७] इस प्रकार जैन दर्शन ज्ञान को चारित्र से पूर्व मानता है। जैन दार्शनिक यह तो स्वीकार करते हैं कि सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है, फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। ज्ञान आचरण का पूर्ववर्ती अवश्य है, यह भी स्वीकार किया गया है कि ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता।[१८] लेकिन यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या ज्ञान ही मोक्ष का मूल हेतु है?

साधना-त्रय में ज्ञान का स्थान

जैनाचार्य अमृतचन्द्रसूरि ज्ञान की चारित्र से पूर्वता को सिद्ध करते हुए एक चरम सीमा स्पर्श कर लेते हैं। वे अपनी समयसार टीका में लिखते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानियों में अन्तरङ्ग व्रत, नियम, सदाचरण और तपस्या आदि की उपस्थिति होते हुए भी मोक्ष का अभाव है। क्योंकि अज्ञान तो बन्ध का हेतु है, जबकि ज्ञानी में अज्ञान का सद्भाव न होने से बाह्य व्रत, नियम, सदाचरण, तप आदि की अनुपस्थिति होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।[१९] आचार्य शङ्कर भी यह मानते हैं कि एक ही कार्य ज्ञान के अभाव में बन्धन का हेतु और ज्ञान की उपस्थिति में मोक्ष का हेतु होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्म नहीं ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।[२०] आचार्य अमृतचन्द्र भी ज्ञान को त्रिविध साधनों में प्रमुख मानते हैं। उनकी दृष्टि में सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र भी ज्ञान के ही रूप हैं। वे लिखते हैं कि मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। जीवादि तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान् रूप से जो ज्ञान है वह तो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान-स्वभाव में ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि के त्याग-स्वभाव के ज्ञान का होना सम्यग्चारित्र है। इस प्रकार ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है।[२१]

यहाँ पर आचार्य दर्शन और चारित्र को ज्ञान के अन्य दो पक्षों के रूप में सिद्ध कर मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु सिद्ध करते हैं। उनके दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन और चारित्र भी ज्ञानात्मक हैं, ज्ञान की पर्यायें हैं। यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य मात्र ज्ञान की उपस्थिति में मोक्ष के सद्भाव की कल्पना करते हैं, फिर भी वे अन्तरङ्ग चारित्र की उपस्थिति से इन्कार नहीं करते हैं। अन्तरङ्ग चारित्र तो कषाय आदि के क्षय के रूप में सभी साधकों में उपस्थित होता है। साधक आत्मा पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञानमय ही है और वही ज्ञानमय आत्मा उसका साध्य है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावमय आत्मा ही मोक्ष का उपादान कारण है क्योंकि जो ज्ञान है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है।[२२] अतः मोक्ष का हेतु ज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने साधना-त्रय में ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र का उपर्युक्त दृष्टिकोण तो जैनदर्शन को शङ्कर के निकट खड़ा कर देता है। फिर भी यह मानना कि जैन दृष्टि में ज्ञान ही मात्र मुक्ति का साधन है, जैन विचारणा के मौलिक मन्तव्य से दूर होना है। यद्यपि जैन साधना में ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का प्राथमिक एवं अनिवार्य कारण है, फिर भी वह एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता। ज्ञानाभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है, किन्तु मात्र ज्ञान से भी मुक्ति सम्भव नहीं है। जैन आचार्यों ने ज्ञान को मुक्ति का अनिवार्य कारण स्वीकार करते हुए यह बताया कि श्रद्धा और चारित्र का आदर्शोन्मुख एवं सम्यक् होने के लिए ज्ञान महत्त्वपूर्ण तथ्य है, सम्यग्ज्ञान के अभाव में अन्धश्रद्धा होगी और चारित्र या सदाचरण एक ऐसी कागजी मुद्रा के समान होगा, जिसका चाहे बाह्य मूल्य हों, लेकिन आन्तरिक मूल्य शून्य ही होगा। आचार्य कुन्दकुन्द, जो ज्ञानवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे भी स्पष्ट कहते हैं कि कोरे ज्ञान से निवार्ण नहीं होता यदि श्रद्धा न हो और केवल श्रद्धा से भी निर्वाण नहीं होता यदि संयम (सदाचरण) न हो।[२३]

जैन दार्शनिक शङ्कर के समान न तो यह स्वीकार करते हैं कि मात्र ज्ञान से मुक्ति हो सकती है, न रामानुज प्रभृति भक्ति-मार्ग के आचार्यों के समान यह स्वीकार करते हैं कि मात्र भक्ति से मुक्ति होती है। उन्हें मीमांसा दर्शन की यह मान्यता भी ग्राह्य नहीं है कि मात्र कर्म से मुक्ति हो सकती है। वे तो श्रद्धा-समन्वित ज्ञान और कर्म दोनों से मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध भी ऐकान्तिक नहीं है। जैन विचारणा के अनुसार साधना-त्रय में एक क्रम तो माना गया है, यद्यपि इस क्रम को भी ऐकान्तिक रूप में स्वीकार करना उसकी स्याद्वाद की धारणा का अतिक्रमण ही होगा, क्योंकि जहाँ आचरण के सम्यक् होने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन आवश्यक है वहीं दूसरी ओर सम्यग्ज्ञान एवं दर्शन की उपलब्धि के पूर्व भी आचरण का सम्यक् होना आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार जब तक तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायें समाप्त नहीं होतीं, तब तक सम्यग्दर्शन और ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। आचार्य शङ्कर ने भी ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व वैराग्य का होना आवश्यक माना है। इस प्रकार सदाचरण और संयम के तत्त्व सम्यग्दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि के पूर्ववर्ती भी सिद्ध होते हैं।, दूसरे, इस क्रम या पूर्वापरता के आधार पर भी साधन-त्रय में किसी एक को श्रेष्ठ मानना और दूसरे को गौण मानना जैन दर्शन को स्वीकृत नहीं है। वस्तुतः साधन-त्रय मानवीय चेतना के तीन पक्षों के रूप में ही साधना-मार्ग का निर्माण करते हैं। धार्मिक चेतना के इन तीन पक्षों में जैसी पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध रहा है, वैसी ही पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध मानवीय तीनों पक्षों में है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोग से मुक्ति

साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया (विहित आचरण) के श्रेष्ठत्व

को लेकर विवाद चला आ रहा है। वैदिक युग में जहाँ विहित आचरण की प्रधानता रही है, वहीं औपनिषदिक युग में ज्ञान पर बल दिया जाने लगा। भारतीय चिन्तकों के समक्ष प्राचीन समय से ही यह समस्या रही है कि ज्ञान और क्रिया के बीच साधना का यथार्थ तत्त्व क्या है? जैन परम्परा ने प्रारम्भ से ही साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया है। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती युग में जब श्रमण परम्परा देहदण्डनपरक तप-साधना में और वैदिक परम्परा यज्ञयागपरक क्रियाकाण्डों में ही साधना की इतिश्री मानकर साधना के मात्र आचरणात्मक पक्ष पर बल देने लगी थी, तो उन्होंने उसे ज्ञान से समन्वित करने का प्रयास किया था। महावीर और उनके बाद जैन विचारकों ने भी ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधना-पथ का उपदेश दिया। जैन विचारकों का यह स्पष्ट निर्देश था कि मुक्ति न तो मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है और न केवल सदाचरण से। ज्ञानमार्गी औपनिषदिक एवं सांख्य परम्पराओं की समीक्षा करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि कुछ विचारक मानते हैं कि पाप का त्याग किए बिना ही मात्र आर्यतत्त्व (यथार्थता) को जानकर ही आत्मा सभी दु:खों से छूट जाती है, लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले ये विचारक संयम का आचरण नहीं करते हुए केवल वचनों से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।[२४] सूत्रकृताङ्गसूत्र में कहा है कि ये मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो, अनेक शास्त्रों का जानकार हो अथवा अपने को धार्मिक प्रकट करता हो, यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कर्मों के कारण दु:खी होगा।[२५] अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। मन्त्रादि विद्या भी उसे कैसे बचा सकती है? असद् आचरण में अनुरक्त अपने आप को पण्डित मानने वाले लोग वस्तुत: मूर्ख ही हैं।[२६] आवश्यक-निर्युक्ति में ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन विस्तृत रूप में है। उसके कुछ अंश इस समस्या का हल खोजने में हमारे सहायक हो सकेंगे। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि "आचरणविहिन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार-समुद्र से पार नहीं होते। मात्र शास्त्रीय ज्ञान से, बिना आचरण के कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार निपुण चालक भी वायु या गति की क्रिया के अभाव में जहाज को इच्छित किनारे पर नहीं पहुँचा सकता वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी तप-संयम रूप सदाचरण के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती।"[२७] मात्र जान लेने से कार्य-सिद्धि नहीं होती। तैरना जानते हुए भी कोई कायचेष्टा नहीं करे तो डूब जाता है, वैसे ही शास्त्रों को जानते हुए भी जो धर्म का आचरण नहीं करता, वह डूब जाता है।[२८] जैसे चन्दन ढोने वाला चन्दन से लाभान्वित नहीं होता, मात्र भार-वाहक ही बना रहता है वैसे ही आचरण से हीन ज्ञानी ज्ञान के भार का वाहक मात्र है, इससे उसे कोई लाभ नहीं होता।[२९] ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक प्रसिद्ध अंध-पङ्गु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जैसे वन में दावानल लगने पर पङ्गु उसे देखते हुए भी गति के अभाव में जल मरता है और अन्धा सम्यक्-मार्ग न खोज पाने के कारण जल मरता है वैसे ही आचरणविहीन ज्ञान पङ्गु के समान है और ज्ञानचक्षुविहीन आचरण अन्धे के समान है। आचरणविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन आचरण दोनों निरर्थक हैं और संसार रूपी दावानल से साधक को बचाने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता, अकेला अन्धा तथा अकेला पङ्गु इच्छित साध्य तक नहीं पहुँचते, वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, वरन् दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।[३०] व्याख्याप्रज्ञप्ति में ज्ञान और क्रिया में से किसी एक को स्वीकार करने की विचारणा को मिथ्या विचारणा कहा गया है।[३१] महावीर ने साधक की दृष्टि से ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध की एक चतुर्भङ्गी का कथन इसी सन्दर्भ में किया है—

(१) कुछ व्यक्ति ज्ञान-सम्पन्न हैं, लेकिन चारित्र-सम्पन्न नहीं हैं।

(२) कुछ व्यक्ति चारित्र-सम्पन्न हैं, लेकिन ज्ञान-सम्पन्न नहीं हैं।

(३) कुछ व्यक्ति न ज्ञान-सम्पन्न हैं, न चारित्र सम्पन्न हैं।

(४) कुछ व्यक्ति ज्ञान-सम्पन्न भी हैं और चारित्र-सम्पन्न भी हैं।

महावीर ने इनमें से सच्चा साधक उसे ही कहा है, जो ज्ञान और क्रिया, श्रुत और शील दोनों से सम्पन्न है। इसी को स्पष्ट करने के लिए निम्न रूपक भी दिया जाता है।

(१) कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं जिनमें धातु भी खोटी होती है, मुद्रांकन भी ठीक नहीं होता।

(२) कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं जिनमें धातु तो शुद्ध होती हैं, लेकिन मुद्रांकन ठीक नहीं होता।

(३) कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं जिनमें धातु अशुद्ध होती हैं, लेकिन मुद्रांकन ठीक होता है।

(४) कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं जिनमें धातु भी शुद्ध है और मुद्रांकन भी ठीक होता है।

बाजार में वही मुद्रा ग्राह्य होती है जिसमें धातु भी शुद्ध होती है और मुद्रांकन भी ठीक होता है। इसी प्रकार सच्चा साधक वही होता है जो ज्ञान-सम्पन्न भी हो और चारित्र-सम्पन्न भी हो। इस प्रकार जैन विचारणा यह बताती है कि ज्ञान और क्रिया दोनों ही नैतिक साधना के लिए आवश्यक हैं। ज्ञान और चारित्र दोनों की समवेत साधना से ही दु:ख का क्षय होता है। क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों ही एकान्त हैं और एकान्त होने के कारण जैन दर्शन की अनेकान्तवादी विचारणा के अनुकूल नहीं हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैन परम्परा में साधन-त्रय के समवेत में ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है, जबकि वैदिक परम्परा में ज्ञाननिष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग ये तीनों ही अलग-अगल मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं और इन आधारों पर वैदिक परम्परा में स्वतन्त्र सम्प्रदायों का उदय

भी हुआ है। वैदिक परम्परा में प्रारम्भ से ही कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग की धाराएँ अलग-अलग रूप में प्रवाहित होती रही हैं। भागवत सम्प्रदाय के उदय के साथ भक्तिमार्ग एक नई निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार वेदों का कर्ममार्ग, उपनिषदों का ज्ञानमार्ग और भागवत सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग तथा इनके साथ-साथ ही योग सम्प्रदाय का ध्यानमार्ग सभी एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में मोक्ष-मार्ग समझे जाते रहे हैं। सम्भवत: गीता एक ऐसी रचना अवश्य है जो इन सभी साधना विधियों को स्वीकार करती है। यद्यपि गीताकार ने इन विभिन्न धाराओं को समेटने का प्रयत्न तो किया, लेकिन वह उनको समन्वित नहीं कर पाया। यही कारण था कि परवर्ती टीकाकारों ने अपने पूर्व संस्कारों के कारण गीता को इनमें से किसी एक साधना-मार्ग का प्रतिपादन बताने का प्रयास किया और गीता में निर्देशित साधना के दूसरे मार्गों को गौण बताया। शङ्कर ने ज्ञान को, रामानुज ने भक्ति को, तिलक ने कर्म को गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय माना।

लेकिन जैन विचारकों ने इस त्रिविध साधना-पथ को समवेत रूप में ही मोक्ष का कारण माना और यह बताया कि ये तीनों एक-दूसरे से अलग होकर नहीं, वरन् समवेत रूप में ही मोक्ष को प्राप्त करा सकते हैं। उसनें तीनों को समान माना और उनमें से किसी को भी एक के अधीन बनाने का प्रयास नहीं किया। हमें इस भ्रांति से बचना होगा कि श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये स्वतन्त्र रूप में नैतिक पूर्णता के मार्ग हो सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व और नैतिक साध्य एक पूर्णता है और उसे समवेत रूप में ही पाया जा सकता है।

बौद्ध परम्परा और जैन परम्परा दोनों ही एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं रखते हैं। बौद्ध परम्परा में शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा प्रज्ञा, श्रद्धा और वीर्य को समवेत रूप में ही निर्वाण का कारण माना गया है। इस प्रकार बौद्ध और जैन परम्पराएँ न केवल अपने साधना-मार्ग के प्रतिपादन में, वरन् साधन-त्रय के बलाबल के विषय में भी समान दृष्टिकोण रखती हैं।

वस्तुत: नैतिक साध्य का स्वरूप और मानवी प्रकृति, दोनों ही यह बताते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग अपने समवेत रूप में ही नैतिक पूर्णता की प्राप्ति करा सकता है। यहाँ इस त्रिविध साधना-पथ का मानवीय प्रकृति और नैतिक साध्य से क्या सम्बन्ध है, इसे स्पष्ट कर लेना उपयुक्त होगा?

मानवीय प्रकृति और त्रिविध साधना-पथ

मानवीय चेतना के तीन कार्य हैं— (१) जानना, (२) अनुभव करना और (३) संकल्प करना। हमारी चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष न केवल जानना चाहता है, वरन् वह सत्य को ही जानना चाहता है। ज्ञानात्मक चेतना निरन्तर सत्य की खोज में रहती है। अत: जिस विधि से हमारी ज्ञानात्मक चेतना सत्य को उपलब्ध कर सके उसे ही सम्यग्ज्ञान कहा गया है। सम्यग्ज्ञान चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सत्य की उपलब्धि की दिशा में ले जाता है। चेतना का दूसरा पक्ष अनुभूति के रूप में आनन्द की खोज करता है। सम्यग्दर्शन चेतना में राग-द्वेषात्मक जो तनाव हैं, उन्हें समाप्त कर उसे आनन्द प्रदान करता है। चेतना का तीसरा सङ्कल्पात्मक पक्ष शक्ति की उपलब्धि और कल्याण की क्रियान्विति चाहता है। सम्यग्चारित्र संकल्प को कल्याण के मार्ग में नियोजित कर शिव की उपलब्धि कराता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र का यह त्रिविध साधना-पथ चेतना के तीनों पक्षों को सही दिशा में निर्देशित कर उनके वांछित लक्ष्य सत्, सुन्दर और शिव अथवा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति की उपलब्धि कराता है। वस्तुत: जीवन के साध्य को उपलब्ध करा देना ही इस त्रिविध साधना-पथ का कार्य है। जीवन का साध्य अनन्त एवं पूर्ण ज्ञान, अक्षय आनन्द और अनन्त शक्ति की उपलब्धि है, जिसे त्रिविध साधना-पथ के तीनों अङ्गों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सम्यग्ज्ञान की दिशा में नियोजित कर ज्ञान की पूर्णता को, चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यग्दर्शन में नियोजित कर अक्षय आनन्द की और चेतना के सङ्कल्पात्मक पक्ष को सम्यक्चारित्र में नियोजित कर अनन्त शक्ति की उपलब्धि की जा सकती है। वस्तुत: जैन आचार दर्शन में साध्य, साधक और साधना-पथ तीनों में अभेद माना गया है। ज्ञान, अनुभूति और सङ्कल्पमय चेतना साधक है और यही चेतना के तीनों पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना-पथ कहलाते हैं और इन तीनों पक्षों की पूर्णता ही साध्य है। साधक, साध्य और साधना-पथ भिन्न-भिन्न नहीं, वरन चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। उनमें अभेद माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में और आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इस अभेद को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं कि यह आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।[३२] आचार्य हेमचन्द्र इसी अभेद को स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र में कहते हैं कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है, क्योंकि आत्मा इसी रूप में शरीर में स्थित है।[३३] आचार्य ने यह कहकर कि आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप में शरीर में स्थित है, मानवीय मनोवैज्ञानिक प्रकृति को ही स्पष्ट किया है। ज्ञान, चेतना और सङ्कल्प तीनों सम्यक् होकर साधना-पथ का निर्माण कर देते हैं और यही पूर्ण होकर साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में साधक, साधना-पथ और साध्य में अभेद हैं।

सन्दर्भ :

१. तत्त्वार्थसूत्र, संपा० पं०सुखलाल संघवी, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १/१।

२. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय सैलाना, वीर सं० २४७८, २८/२।

३. साइकोलॉजी एण्ड मॉरल्स, जे०ए०हैडफील्ड, १९३६, पृ० १८०।

४. उत्तराध्यनसूत्र, संपा० रतनलाल दोशी, प्रका० श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, २८/३०।

५. वही, २८/३०।

६. तत्त्वार्थसूत्र, संपा० पं० सुखलाल संघवी, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १/१।

७. दर्शनपाहुड, (अष्टप्राभृत), आचार्य कुन्दकुन्द, प्रका० परमश्रुत

प्रभावक मण्डल, अगास, १९६९, २।

८. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० रतनलाल दोशी, प्रका० श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, २८/२।

९. नवतत्त्वप्रकरण, उद्धृत आत्म-साधना संग्रह, मोतीलाल माण्डोत, पृ० १५१।

१०. उद्धृत, आत्मसाधना संग्रह, पृ० १५१।

११. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० रतनलाल दोशी, प्रका० श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर०सं० २४७८, २३/२५।

१२. वही, २८/३५।

१३. वही, २८/२९।

१४. भक्तपरिज्ञा, पइण्णयसुत्ताइं, संपा० पुण्यविजयमुनि, प्रका० श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९८४, ६५-६६।

१५. आचाराङ्गनिर्युक्ति, भद्रबाहु, प्रका०- श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, शांतिपुरी (सौराष्ट्र), १९८९, रतलाम, १९४१, २२१।

१६. दशवैकालिकसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५, ४/१२।

१७. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० रतनलाल दोशी, प्रका० श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, २४७८, २८/३०।

१८. व्यवहारभाष्य, प्रका० केशवलाल प्रेमचन्द्र, अहमदाबाद, ७/२१७।

१९. समयसार टीका, अमृतचन्द्र, प्रका० अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली, १९५९, १५३।

२०. गीता (शां०) गीता प्रेस, गोरखपुर, वि०सं० २०१८, अ० ५ पीठिका।

२१. समयसार टीका, अमृतचन्द्र, प्रका० अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली, १९५९, १५५।

२२. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पढिसंखाए।
— आचाराङ्ग, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०, १/५/५।

२३. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, प्रका० परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३५, चारित्राधिकार, ३।

२४. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० रतनलाल दोशी, प्रका० श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं०, २४७८, ६/९-१०।

२५. सूत्रकृताङ्गसूत्र, संपा० श्री मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, २/१/७।

२६. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० रतनलाल दोशी, प्रका० श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, ६/११।

२७. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्रीय वृत्ति) प्रका० बी०के० कोठारी, रिलीजियस ट्रस्ट, बम्बई, १९८१, ९५-९७।

२८. वही, ११५१-५४।

२९. वही, १००।

३०. वही, १०१-१०२।

३१. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, ८/१०/४१।

३२. समयसार, कुन्दकुन्द, अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली, १९५९, २७७।

३३. योगशास्त्र, संपा० मुनि समदर्शी, प्रका० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६३, ४/१।